

प्रातःस्मरणीय मुमुक्षुजीवोंके परम तारणहार,
 पंचमकालमें अध्यात्म अमृतकी वर्षा करनेवाले निष्कारण करुणाशील
 सौम्यमूर्ति पूज्यभाईश्री शशीभाईके समाधिदिन पर उनके चरणोंमें
 कोटी कोटी वंदन



जिन सत्पुरुषोंने जन्म, जरा और मरणका नाश करनेवाला, स्वस्वरूपमें सहज अवस्थान होनेका उपदेश दिया है, उन सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार है। उनकी निष्कारण करुणाकी नित्य प्रति निरंतर स्तुति करनेसे भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है। ऐसे सर्व सत्पुरुषोंके चरणारविंद सदा ही हृदय में स्थापित रहे।

सत्पुरुषोंने सद्गुरुकी जिस भक्तिका निरूपण किया है, वह भक्ति मात्र शिष्यके कल्याण के लिये कही है। जिस भक्ति को प्राप्त होनेसे सद्गुरुके आत्माकी चेष्टामें वृत्ति रहे, अपूर्व गुण दृष्टिगोचर होकर अन्य स्वच्छंद मिटे, और सहजमें आत्मबोध हो, ऐसा जानकर जिस भक्तिका निरूपण किया है, उस भक्तिको और उन सत्पुरुषोंको पुनः पुनः त्रिकाल नमस्कार हो। (श्रीमद् राजचंद्र, पत्रांक-४९३)

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४५: अंक-२४४, वर्ष-२२, मार्च-२०१८

आषाढ शुक्ल ६, शुक्रवार, दि. २४-६-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-१७, गाथा-४७

४७। 'बाह्य क्रिया में धर्म नहीं है।' ४७
श्लोक।

धम्मु ण पढियई होइ धम्मु ण पोत्था-पिच्छियई।
धम्मु ण मढिय-पएसि होइ धम्मु ण मत्था-
लुचियई॥४७॥

'शास्त्र पढ़नेमात्र से धर्म नहीं हो जाता।' शास्त्र पढ़-पढ़कर बड़ा पण्डित हुआ हो, इसलिए धर्म हो जाये-ऐसा नहीं है। आहाहा..! समझ में आया? 'पोत्था-पिच्छिय' 'यह पुस्तक और पिच्छी रखनेमात्र से धर्म नहीं हो जाता।' नग्न मुनि हो गया और पिच्छी रखी और एक पुस्तक रखी, वह कहीं धर्म नहीं है। देखो! यह योगीन्द्रदेव स्वयं दिगम्बर मुनि हैं, जंगलवासी आचार्य हैं, आत्मध्यान में मस्त हैं, वे कहते हैं कि तेरी मोरपिच्छी या पुस्तक से कहीं धर्म नहीं होता है।

'किसी मठ में रहने से धर्म नहीं होता।' एकान्त में जाकर वन में रहे, किसी मठ में रहे... वन में और मठ में रहे उसमें क्या हुआ? बहुत से चकवे उसमें रहते हैं। समझ में आया? हैं? मठ और वन सब एक ही है, उसमें क्या? धर्म का पता नहीं, वहाँ मठ में रहे या वन में रहे या घर में रहे... समझ में आया? और आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध का भान करके चाहे तो वन में रहे या चाहे तो घर में रहे.. समझ में आया? आत्मा के भान

बिना, कहते हैं किसी मठ में रहने से धर्म नहीं होता।

ऐसा 'केशलौच करने से भी धर्म नहीं होता।' 'मत्था-लुचियई' सिर का लौच करते हैं न, छह-छह महीने में? उससे कहीं धर्म नहीं है। लोगों को ऐसा हो जाता है.. आहाहा..! वह तो जड़ की क्रिया है; वह कहीं आत्मा की क्रिया है ही नहीं। उसमें कुछ राग मन्द होवे और सहनशीलता करे तो वह पुण्यभाव है। अन्दर आत्मा के आनन्द के भान बिना ऐसा सिर मुँड़ाने पर भी वहाँ धर्म-वर्म है नहीं। कहो, समझ में आया? आहाहा..!

'जिस धर्म से जन्म, जरा, मरण का दुःख मिटे, कर्मों का क्षय हो, यह जीव स्वाभाविक दशा को प्राप्त करके अजर-अमर हो जाये, वह धर्म...' कहलाता है। वह 'आत्मा का निजस्वभाव है।' धर्म है, लो! 'वही निश्चय रत्नत्रयमय धर्म, स्वानुभव अथवा शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त करेगा।' लो, अपनी श्रद्धा करेगा, अपना ज्ञान करेगा, एकाग्रता करेगा, वह सच्चे शुद्धोपयोग की प्राप्ति करेगा।

'जो कोई उस तत्त्व को भलीभाँति न समझे...' भगवान आत्मा ज्ञातादृष्टा, जगत् का साक्षी, जगत् का चक्षु, दुनिया के दृश्य को देखनेवाला, यह ज्ञेय का ज्ञाता-ऐसा भगवान आत्मा ज्ञातादृष्टा अनुभव में न ले और इसके अतिरिक्त 'बाह्य क्रियामात्र

व्यवहार ही करे और माने कि मैं धर्म का साधन कर रहा हूँ...' तो वह धर्म साधन है नहीं। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु :- क्षेत्र विशुद्धि...

उत्तर :- क्षेत्र विशुद्धि भी नहीं। क्षेत्र विशुद्धि किसकी? (बीज) बोये तब क्षेत्र विशुद्धि कहलाये न? बोये बिना (क्या)? 'खस' में रहते नहीं वे? कुम्हार नहीं? गुजर गये। बहुत इतने-इतने तक खेत को साफ करते (परन्तु) बोये नहीं, तो बोये बिना उगता होगा? क्या कहा उसका नाम? अपने थे न यहाँ? उनके साथ, वे बाद में साधु हुए थे। वे खेत में बहुत साफ करते थे। इतना-इतना खोद कर अन्दर से बौर और काँटे निकालते। बोने का समय आवे तब बोते नहीं। वे फिर ऐसी लाईन में चले गये, कुछ सूझे नहीं, धर्म की लगन अवश्य; करे ऐसी महेनत और समय आवे तब बोये नहीं-ऐसी वहाँ उनकी छाप थी।

मुमुक्षु :- घासफूस तो हुआ।

उत्तर :- घासफूस तो मुफ्त भी होगा। घासफूस होने में क्या है?

मुमुक्षु :- दृष्टान्त भी ठीक मिल गया।

उत्तर :- नहीं, नहीं, दृष्टान्त है यह। उसे भी ऐसी लाईन... ऐसा फिर उसे भाव अवश्य, दीक्षा लेना,-ऐसा अवश्य। करे तब करे और फिर बैठ जाये, कुछ सूझ नहीं पड़े ऐसे खेत साफ करे परन्तु बीज बोये बिन उगे कहाँ से? बीज बिना वृक्ष का अंकुर फूटता होगा?

इसी तरह भगवान आत्मा अखण्डानन्द प्रभु का अनुभव किये बिना मोक्ष का फल कहीं पकता नहीं

है। बाहर का क्रियाकाण्ड करके मर जाये-दया पाले, व्रत पाले, भक्ति करे, पूजा करे, और लाखों-करोड़ों का दान करे... समझ में आया? लाखों-करोड़ों का दान करे और लाख-करोड़ मन्दिर बनाये... हराम... धर्म हो उसमें तो। शुभभाव हो, शुभभाव-पुण्य हो। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं न, देखो न! सब कठोर भाषा ली है। (यहाँ) 'कहा है कि ग्रन्थ पढ़ने से ही धर्म नहीं होता, ग्रन्थ का पठन पाठन इसलिए उपयोगी है कि जगत् के पदार्थ...'

जानकर फिर आत्मा का अनुभव करना। समझ में आया? 'यदि शुद्धात्मा का लाभ न करे, केवल शास्त्रों का अभ्यासी महान विद्वान और वक्ता होकर धर्मात्मा होने का अभिमान करे...' शुद्धात्मा भगवान परमानन्द की मूर्ति का अनुभव न हो, सम्यग्दर्शन नहीं, उसका अनुभव नहीं, केवल शास्त्रों का पाठी

है.... अकेला शास्त्र पढ़े, दुनिया में महान विद्वान कहलाये, वक्ता-फिर पाँच-पाँच लाख लोगों में भाषण दे... 'धर्मात्मा होने का अभिमान करे तो वह सब मिथ्या है।' वह कोई धर्मात्मापना नहीं है। आहाहा..! हैं?

मुमुक्षु :- ऐसा तो अनादि से चला आता है।

उत्तर :- अनादि से ऐसा का ऐसा चला आता है।

धर्म तो आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करना, वह धर्म है। भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान का अन्दर में वेदन करे, उसका नाम धर्म है। उस धर्म के बिना बाहर के शास्त्रों के अध्ययन में विद्वत्ता धारण कर अभिमान करे (तो वह) मिथ्या है।



‘इसी प्रकार कोई बहुत शास्त्रों का संग्रह करे...’ भरो पुस्तकें पाँच-दस लाख बड़ी... समझे न? जैसे दाने का संग्रह करते हैं न? वैसे ही यह पुस्तकों का संग्रह करे। कहो, समझ में आया? ‘पिच्छी रखकर साधु या क्षुल्लक श्रावक हो जाये...’ लो! बहुत पुस्तक रखे, पिच्छी रखे... समझ में आया? ‘केशलौच करे, एकान्त मठ में या गुफा में बैठे परन्तु शुद्ध आत्मा की भावना न करे...’ अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान की अन्तरदृष्टि, ज्ञान और अनुभव न करे। ‘बाह्य मुनि या श्रावक के वेश को ही धर्म मान ले तो ऐसा मानना मिथ्या है। शरीर के आश्रय से जो वेश होता है, वह केवल निमित्त है, व्यवहार है, धर्म नहीं।’ यह व्यवहार, धर्म नहीं है। समझ में आया?

‘व्यवहार क्रियाकाण्ड से या चारित्र से रागभाव-शुभभाव होने से पुण्यबन्ध का हेतु है...’ लो! समझ में आया? ‘वह संवर और निर्जरा का हेतु नहीं... मुमुक्षु जीव को इस बात की दृढ़ श्रद्धा रखना चाहिए कि भाव की शुद्धि ही मुनि अथवा श्रावकधर्म है...’ धर्मात्मा को यह दृढ़ता से श्रद्धा में रखना चाहिए कि अन्दर में आत्मा के पुण्य-पाप के भाव बिना आत्मा की शुद्धि की भावना होना, और भाव होना, वही मुनि और श्रावकधर्म है। समझ में आया? अशुभभाव से बचने के लिए शुभभाव आता है। समझ में आया?

‘कोई जीव चाहे जितना ऊँचा बाह्य चारित्र पाले और किसी को चाहे जितने शास्त्रों का ज्ञान हो तो भी निश्चयधर्म के बिना साररहित है...’ कहो, व्यर्थ है, एक के बिना की शून्य है, कोरा कागज। हैं?

मुमुक्षु :- धर्मी की पहचान तो हो...

उत्तर :- धूल में धर्मी की पहचान नहीं होती। धर्म की पहचान, धर्मी आत्मा की पहचान शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति का अनुभव, यह धर्म की पहचान है। दया, दान, व्रत के परिणाम तो विकार हैं, वह

धर्मी की पहचान नहीं है। अद्भुत, कठिन बात।

‘निश्चय धर्म के बिना साररहित है, चावल रहित तुष के समान है।’ जैसे चावल न हो और अकेला छिलका हो, छिलका कहते हैं न? तुष... तुष। इसी प्रकार आत्मा के शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, अनुभव के बिना यह बाह्य क्रिया महाव्रत के परिणाम आदि सब व्यर्थ, व्यर्थ है। ‘पुण्यबन्ध कराकर संसार का भ्रमण बढ़ानेवाले हैं।’ सबकी बात (की है)। वे कहें, संसार बढ़ाये? संसार बढ़ाये? फिर टीका (आलोचना करे)। आत्मा शुद्धचैतन्य प्रभु निर्विकल्प आनन्दकन्द का अनुभव सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना जितनी क्रिया-पंच महाव्रत आदि की दया, दान, भक्ति, पूजा की करे, वह सब पुण्यबन्ध की करनेवाली है। संसार भ्रमण बढ़ानेवाली है। उसमें तो संसार बढ़ता है-ऐसा यहाँ तो कहते हैं। कहो, भाई! जितना अंश वीतराग है, उतना धर्म है-ऐसा कहना है है। समझ में आया?

‘हे आत्मा! तू इस पाप का बंध करनेवाली कल्पना को छोड़, ऐसा अहंकार न कर की मैं शूरी हूँ।’ अन्तिम बोल-दृष्टान्त है। ‘बुद्धिमान हूँ, चतुर हूँ, सबसे अधिक लक्ष्मीवाला हूँ...’ छोड़ दे यह बात। भगवान आत्मा निराला ज्ञानानन्द है, उसे ऐसा बाहर का अभिमान किसका? बड़ा पैसेवाला हूँ, मुझे दुनिया करोड़पित मानती है, मैं ‘गुणवान हूँ, समर्थ हूँ, अथवा सर्व मनुष्यों में अग्र हूँ, मुनिराज हूँ... निरन्तर निर्मल आत्मतत्त्व का ही ध्यान कर...’ यह अहंकार छोड़ दे। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभावी वस्तु का निरन्तर अनुभव कर तो मोक्ष की लक्ष्मी मिलेगी। बाह्य क्रियाकाण्ड में कुछ मिले ऐसा नहीं है। अद्भुत कठिन परन्तु.. लो! यह तो स्पष्ट लिखते हैं।

मुमुक्षु :- व्यवहार सिद्ध करके व्यवहार को उड़ाते हैं।

उत्तर :- व्यवहार सिद्ध नहीं किया? व्यवहार है, किसने इंकार किया? व्यवहार से लाभ होता है, इससे इंकार करते हैं, व्यवहार से लाभ का इंकार करते हैं। यह ४७वीं गाथा (पूरी हुई)।



**पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानीजी द्वारा
साधर्मीओं को लिखे हुए आध्यात्मिक पत्र**

(१५)

कलकत्ता

२५-६-१९५४

ॐ

पूज्य गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी...प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह।

पत्र पहले भी आपके मिले थे व एक अब भी कलकत्ता में मिला। मैं करीब दो माह से कलकत्ता से बाहर था, अतः जवाब आदि नहीं दिया जा सका था। क्या बताऊँ, हृदय को पूर्णतया व्यक्त नहीं किया जा सकता है। यहाँ भी तीव्र भावनाएँ थी कि पूज्य गुरुदेव के विहार में अवश्य साथ होऊँ। कुछ दिनों अजमेर रहना हुआ, वहाँ से उमराला का प्रोग्राम भाई सोभागमल दोशी भजन मण्डलीवालों के साथ जमाया था, परंतु वह भी पूर्ण नहीं हो सका। यहाँ से गए पश्चात् २०-२५ दिन शारीरिक अस्वस्थता के कारण देर अधिक हो गई थी, अतः मिलवालों के तार-टेलिफोन बहुत आनेसे, अत्यंत खेद है कि पूज्य परमोपकारी गुरुदेव के दर्शन बिना ही कलकत्ता वापस लौटना पड़ा। अब इस हालत में उधर जल्दी आनेका प्रोग्राम फिलहाल नज़र नहीं आता है। सेठ बच्छराजजी, मालूम हुआ कि सोनगढ़ गए हैं, पहुँचे होंगे। पुण्ययोग नहीं है, वहाँ का संयोग नहीं है, अरुचिकर वातावरण का योग है। महान अफसोस है। आपकी बारंबार की भावनाओं को, मुझे वहाँ बुलाने को, मैं भलीभाँति समझ सकता हूँ; मेरा भी हृदय वहाँ के लिये अब आतुर है। काफी समय हो गया है। पूज्य गुरुदेव की व सोनगढ़ के वातावरण की स्मृतियाँ बारंबार उत्साह को बढ़ाती रहती हैं। पापबंध ढीले पड़ते हैं, पुण्यबंध वृद्धि पाते हैं, विवेक में है; पर इन सबसे क्या? अहो गुरुदेव! आपने तो इन दोनों से ही निराली वृत्ति दिखा दी है, जो कि इनके होते हुए भी विचलित नहीं होती, खूँटे के सहारे से डिगती नहीं है, उसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का प्रतिबंध नहीं है। पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि जो कुछ लाभ है सो तो यह वृत्ति ही है, अनंत सुखों के पिण्ड के साथ रहती है, फिर चिंता काहे की? यह तो स्वयं स्वभाव से ही चिंता रहित है, निश्चित वृत्ति में चिंतित वृत्ति का तो अत्यंत अभाव है। हे भगवान! आपकी यह वाणी मस्तिष्क में नित्य घूमती रहे, यह ही भावना है। अधिक फिर।...

धर्मस्नेही निहालचंद्र

(१६)

कलकत्ता

२७-६-१९५४

ॐ

आत्मार्थी...प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह।

पत्र एक पहले दिया सो पहुँचा होगा। आशा है पूज्य परम उपकारी सद्गुरुदेव सुख-शांति में विराजते होंगे व श्रोतागणों को अमृतरस में स्नान करने की प्रेरणा मिलती होगी।...

धर्मस्नेही निहालचंद्र



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके ९४९ वचनामृत पर भाववाही
प्रवचन, दि. १७-६-१९८५, प्रवचन
क्रमांक-५६४ (विषय : विधि)

प्रतिज्ञा तो तत्त्वज्ञानपूर्वक होनी चाहिए। सम्यदर्शन होनेके बाद ब्रतादिके शुभ-विकल्प आते हैं। आनन्दस्वभावमें लीन होऊँ-धर्मीको ऐसी भावना होती है। प्रतिज्ञा-लिए बिना, आसक्तिका नाश नहीं होता। प्रथम तो स्वभावका भान होना चाहिये। ९४९

परमागमसार। पृष्ठ-१८९। ९४९ चल रहा है। प्रतिज्ञाके विषयमें स्पष्टीकरण है। प्रतिज्ञा यथार्थ प्रकार-से कब होती है? प्रतिज्ञाको और आराधनको कितना सम्बन्ध है? क्या सम्बन्ध है? प्रतिज्ञा विराधनाका किस प्रकार घातक है? उसका स्पष्टीकरण है।

फिर-से लेते हैं। 'प्रतिज्ञा तो तत्त्वज्ञानपूर्वक होनी चाहिये।' तत्त्वज्ञानपूर्वक अर्थात् स्व तत्त्वके ज्ञानपूर्वक प्रतिज्ञा होनी चाहिये। स्वयं कौन है? मूलमें स्वयं कौन है? अवस्थामें कहाँ खड़ा है? जहाँ खड़ा है वहाँ खड़े रहने जैसा है या वहाँ-से हटने जैसा है? हटने जैसा है तो हटकर कहाँ जाने जैसा है? किस प्रकार हटा जाता है? यह सब स्व तत्त्वके ज्ञानमें आता है। ऐसे तत्त्वज्ञानपूर्वक प्रतिज्ञा होनी चाहिये।

यहाँ तर्क हो सकता है कि ऐसा तत्त्वज्ञान न हो फिर भी हमें प्रतिज्ञा लेनेका भाव हो तो लेनी या नहीं? प्रतिज्ञा लेने-से हमें दूसरा क्या नुकसान है? जिस पदार्थ सम्बन्धित प्रतिज्ञा लेंगे, उस प्रकारकी प्रतिज्ञा लेंगे। उतने पाप-से तो छूटेंगे।

मुमुक्षु :- उतना तो लाभ होगा।

समाधान :- इतना सीधा हिसाब है। तो क्या हमें ऐसा पाप नहीं छोड़ना? तत्त्वज्ञान न हो तब

तक वैसा पाप करना चालू रखना? यह कोई व्याजबी बात है? यह तर्क यहाँ सम्भवित है। तो उसे कहते हैं कि तेरा विकल्प ऐसा हो कि भले ही मुझे तत्त्वज्ञानकी समझ नहीं हुई हो, नहीं हुई है, उसे ऐसा कहते हैं कि तूने तत्त्वज्ञानकी समझ करनेका तू प्रयत्नवान है कि नहीं? यदि तू तत्त्वज्ञान समझनेका प्रयत्नवान हो और अभी तुझे समझमें नहीं आया हो तो प्रतिज्ञा लेने-से तुझे रोकते नहीं है। भले ही तू प्रतिज्ञा ले। परन्तु साथ-साथ ऐसी समझ रखना कि ये प्रतिज्ञा मात्र थोड़ा पापभाव मिटनेका साधन है और तत्त्वज्ञान होने-से पहले उसका कोई विशेष मूल्य नहीं है। इतनी समझन रखना।

दूसरा पक्ष। कि, यदि तत्त्वज्ञानकी समझ करनेका प्रयत्नवान ही नहीं है और मात्र प्रतिज्ञा सम्बन्धित राग होने-से प्रतिज्ञा लेता है, पाप छोड़नेके लिये, तो उसे कहते हैं कि, तू रुक जा। तेरी शक्तिका उपयोग तत्त्वज्ञानकी समझ करनेमें प्रथम लगा। उसे लगानेके बाद यदि तेरे पास शक्ति बचे तो भले ही तू प्रतिज्ञा ले, हमें कोई दिक्कत नहीं है। तत्त्वज्ञानकी समझ होने-से पहले भी ले, हमें कोई दिक्कत नहीं है। परन्तु उसमें तू इस समझमें रहेगा कि इस प्रतिज्ञाका

परमार्थतः, धर्मार्थ ऐसा कोई मूल्य नहीं है। और ऐसी समझ रखने पर तुझे उन व्रतादिका अभिमान होनेका प्रसंग है वह कदाचित् नहीं होगा। उससे तू बच सकेगा, ऐसा कहते हैं।

ऐसा नहीं है कि पापमें खड़ा रखकर तत्त्वज्ञान समझाना है। पापमें खड़ा रखकर तत्त्वज्ञानकी प्रेरणा देनी है, ऐसा तो कोई आशय नहीं हो सकता। जहाँ शुद्धताका, निर्दोषताका, पवित्रताका मार्ग हो, वहाँ तत्त्वकी प्ररूपणा ऐसी हो, वहाँ तो वह बात नहीं सकती। क्योंकि वह तो स्थूल बुद्धि-से भी न्यायके विषयमें न्यायसंमत भी हो ऐसा नहीं है।

परन्तु राजमार्ग जो है, जिनमार्ग है, मोक्षमार्ग है, जिनेन्द्र देवकी मार्गकी जो आम्नाय है उसमें तो ऐसा प्रकार है, यथार्थ प्रकार ऐसा है कि कोई भी जीव शक्तिको प्रथम तत्त्वज्ञानमें लगाये। फिर भी उसे कषायकी मन्दता रहती हो तो जरूर प्रतिज्ञा ले, परन्तु उसकी समझ रखे कि ये प्रतिज्ञा वास्तविक व्रतादिरूप नहीं है, ये सच्चे व्रत नहीं हैं। सच्चे व्रत नहीं है, ऐसा समझकर रखे तो बहुत फ़र्क पड़ता है।

जैसे कोई कारणवश खोटे गहने पहने। बिहार ओर यात्रामें जाते हैं न, तो लूट बहुत होती है। हमारे लोग जाते हैं तो सच्चे गहने ऊतार लेते हैं। खोटे गहने पहन लेते हैं। एक रूपयेवाली चूड़ीयाँ पहनी हो, एक रूपयावाला एरींग पहना हो। गहने पहने हैं, ऐसा मालूम है, परन्तु खोटे पहने हैं, उसका भान है। तो उसकी उसे सावधानी नहीं है और उसके परिणाम ममत्वपूर्वक वहाँ नहीं लगते।

ऐसे सच्चे व्रत नहीं हैं, ऐसा जिसे ख्याल है उसे उस ममत्व होनेके बदले स्व तत्त्वमें ममत्व होनेका अवकाश रहता है। और जो खोटे व्रतको सच्चे मान लेता है, वह व्रतादिकी सावधानीमें और व्रतादिके रागमें उतना सावधान रहता है, तन्मय रहता है कि उसे निज स्व तत्त्वकी ओर मुड़नेका अवकाश नहीं रहता। यह नुकसान होता है।

अतः विशेष विचार करें तो, यदि पहले प्रतिज्ञा

ली हो, ले ली हो अथवा लेनेका भाव हो तो ऐसी समझन रखनी। और ऐसी शक्ति न हो तो जितनी पुंजी-शक्ति है, परिणामकी शक्ति पुंजी है न? उसे तत्त्वज्ञानकी समझमें लगानी, उपयोगको वहाँ लगाना। और स्व तत्त्वकी समझ होनेके बाद, सम्यग्दर्शन होनेके बाद व्रतादिका शुभ विकल्प आता है। सम्यग्दृष्टिको परिपूर्ण निर्दोष होना है इसलिये, परिपूर्ण निर्दोष होनेके ध्येयपूर्वक वह सम्यग्दृष्टि हुआ होने-से उसे आसक्तिका राग मिटानेका भी विकल्प आता है। वह चारित्रमोहका राग है। दर्शनमोह मिट गया इसलिये बस, अब कोई दिक्कत नहीं है। अब मेरा चारित्रमोहका राग तो मिट ही जायगा, फिर उसे मिटानेका कोई विकल्प नहीं है, ऐसी बेपरवाही अथवा उस प्रकार-से, अनुचित प्रकार-से, अयथार्थ प्रकार-से दोषको गौण करनेकी वृत्ति सम्यग्दृष्टिको तो होती नहीं। हो तो सम्यग्दृष्टि नहीं है। इसलिये सम्यग्दृष्टिको भी अपने ध्येय पर्यत-पूर्ण निर्दोषता पर्यत पहुँचनेके लिये व्रतादिका विकल्प आता है, नहीं आता है, यह प्रश्न नहीं है।

जैसे मुनिदशा अंगीकार करनेमें प्रथम दीक्षाकी प्रतिज्ञा दिलवाते हैं। उसमें व्यवहार और निश्चयकी अनेकविध प्रकारका प्रतिज्ञाका संकल्प होता है। मैंने तो मुनिदीक्षाकी विधि देखी नहीं है या सुनी नहीं है, लेकिन ऐसा ही होगा, दूसरा प्रकार नहीं हो सकता। ऐसी विधिमें कोई बार अपने मौजूद नहीं रहे हैं, उपस्थित नहीं रहे हैं, परन्तु ऐसी ही होता है। उसमें अनेक प्रकारकी प्रतिज्ञाकी विधि वहाँ है।

मुमुक्षु :- व्यवहार, निश्चय दोनों?

पूज्य भाईश्री :- व्यवहार सम्बन्धित और निश्चय सम्बन्धित, दोनों होती है। इसलिये व्यवहारमें भी उसे शुभभाव और अशुभभाव सर्वसावद्ययोगके त्यागकी प्रतिज्ञा अशुभभाव सम्बन्धित है, और गृहस्थके योग्य शुभभाव आरंभ-समारंभपूर्वकवालेकी बाकीके पंच महाव्रत और अट्टाईस मूलगुणकी प्रतिज्ञा अवश्य होती है।

निश्चय-से शुद्धोपयोगकी प्रतिज्ञा होती है कि मैं शुद्धोपयोगमें रहूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा निश्चय सम्बन्धित भी

होती है। इसप्रकार तीनों प्रकारके परिणाम आ जाय ऐसा वह धोख मोक्षमार्ग है और वहाँ प्रतिज्ञाका एक प्रकार उत्पन्न होता है।

क्योंकि सिद्धान्त ऐसा है कि **‘प्रतिज्ञा-लिए बिना, आसक्तिका नाश नहीं होता।’** यह भी एक अत्यंत अनुभवपूर्ण वचन है। आगे आता है उसकी पहले चर्चा करते हैं। उसके पहले इतनी बात है कि जो व्रतादिका शुभ विकल्प आता है, ऐसा एक शुभभावका प्रकार है कि जो निषेध करने योग्य नहीं है। मोक्षमार्गमें वह निषेध करने योग्य नहीं है। जैसे मोक्षमार्गमें दूसरे परिणाम होते ही हैं, जैसे जिनेन्द्र दर्शन। जिनेन्द्र दर्शनके परिणामका कोई निषेध करे कि आत्मामें उपयोग लगाना है, उसमें परका क्या काम है? इसलिये ये प्रतिमा, मन्दिर आदि सब बातको हम स्वीकारते नहीं। तो वह भी जूटा है। उसकी उसे खबर नहीं है। बहुत समझका यह मार्ग है। ऐसे ही एकान्त करे ऐसा भी उसमें नहीं है। किस भूमिकामें कितने शुभ भाव होते हैं? यदि न हो तो उसे उससे निम्न कोटिके शुभ भाव अथवा अशुभ भाव ही होते हैं। उसकी वह भूमिका नहीं है, उसका क्या? अतः चारित्रके परिणामन-से भी उसकी भूमिकाका माप है, ज्ञानके परिणामन-से भी उसकी भूमिकाका माप है और श्रद्धानके परिणामन-से भी उसकी भूमिकाका माप है। सुखके परिणामन-से भी उसकी भूमिकाका माप है, पुरुषार्थके परिणामन-से भी उसकी भूमिकाका माप है।

प्रत्येक भूमिकाकी एक निश्चित स्थिति है। और जिनेन्द्र देवकी दिव्यध्वनिमें वह मार्ग प्रकाशित हुआ है कि हम जिस मार्ग पर चले, उस मार्ग पर चलनेवाला, व्यवहार-से हमारे मार्ग पर चलनेवाला, निश्चय-से तो अपने शुद्धात्मा-आत्माके मार्ग पर चलनेवालेकी इस भूमिकामें उस-उस प्रकारकी, उस-उस भूमिकामें यह प्रकार होता है। उसका उल्लंघन करके दूसरा प्रकार नहीं होता। और इसीलिये तो प्रायश्चित्त आदिका विधान है। नहीं तो प्रायश्चित्त करनेका कहाँ सवाल रहता है? प्रायश्चित्तका विधान क्यों है?

कि भूमिकामें अतिचार हो जाय, परिणाममें ऐसा कोई भाव उत्पन्न हो जाय, अतिचार हो जाय तो मोक्षमार्गी जीव जागृत होने-से उसके ख्यालमें आये बिना नहीं रहता। इसलिये वह दोषमें-से बचता है। बहुत सँभालकर चलनेका और बहुत सावधानीका मार्ग है। ऐसे ही अतिपरिणामी बनकर मान ले कि हम धर्म करते हैं और व्यर्थ काल व्यतीत हो जाय, ऐसा विषय नहीं है।

कहते हैं कि **‘सम्यग्दर्शन होनेके बाद व्रतादिके शुभ-विकल्प आते हैं।’** न आये ऐसा नहीं बनता। जो आगे बढ़ता है उसे वह विकल्प, मोक्षमार्गमें आगे बढ़ता है, शुद्धतामें आगे बढ़ता है उसे अशुद्धताकी हानि होनेके लिये विकल्प आते हैं। और वह विकल्प आता है, उसके पीछे उसका परमार्थ क्या है? उसका आत्मार्थ क्या है? कि उसका आशय उतना ही है कि जो आनन्द स्वभाव है, मुझे अनुभवगोचर हुआ है, उसमें मुझे लीन रहना है। आनन्दमें लीन होऊँ ऐसी जो धर्मीकी भावना है, उस भावना अनुसार भावनाको सानुकूल ऐसा व्रतादिका विकल्प है। व्रतादिके विकल्पको और स्वभावकी लीनता अर्थात् स्थिरताका सम्बन्ध है। ऐसा है। व्यवहार-से सम्बन्ध है।

निश्चय-से स्वरूपकी लीनता निरपेक्ष है। व्यवहार-से उसे उस-उस भूमिकाका शुभ भावके साथ व्यवहार सम्बन्ध है। इसीलिये उसका व्यवहाररत्नत्रय नाम रखा है। व्यवहार सम्बन्ध है। ऐसा नहीं मानता है, वह वस्तुको समझा नहीं है। व्यवहार-निश्चयात्मक जो मोक्षमार्ग है, उसे वह समझा नहीं।

‘आनन्दस्वभावमें लीन होऊँ-धर्मीको ऐसी भावना होती है।’ भावना होती है, भावना वर्तती है। उस भावनामें पहुँचनेके लिये, उस भावनाको साकार करनेके लिये उसे व्रतादिका विकल्प भी आता है। क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है कि **‘प्रतिज्ञा-लिए बिना आसक्तिका नाश नहीं होता।’** बहुत सुन्दर न्याय है यह। न्यायकी दृष्टि-से यह न्याय है और दूसरे

प्रकार-से यह वस्तुकी स्थिति है। इसमें न्याय क्या है? कि जो प्रतिज्ञाका विकल्प है, व्रतका विकल्प है, वह उत्पन्न होने पूर्व उसे अव्रतका विकल्प है। विकल्पके सामने न्यायसे विकल्पको रखा है। प्रतिपक्ष रखा है। अव्रतके सामने व्रत प्रतिपक्ष है। वकीलके सामने वकीलको खड़ा करते हैं न? या कुम्हारको खड़ा रखते हैं? मटका बनाता हो, उसे ले जाय कि चल भाई, मेरा केस लड़ दे तू। उसे इसप्रकारका विकल्प आता है।

एक दूसरा दृष्टान्त लेते हैं। विकल्पके सामने विकल्प कैसे होता है? स्वरूपका ध्यान करनेका विकल्प आये कि मैं मेरे स्वरूपमें एकाग्र होऊँ। उसमें दूसरे विकल्प आते हों, उदयके कार्योंके, कि इसे ठीक करना है, यह ऐसा है, वह ऐसा है, तो उदय सम्बन्धित जो विकल्प उत्पन्न होते हों, वहाँ उस विकल्पको तोड़नेको एक विकल्प देते हैं कि तू पंच परमेष्ठीका विकल्प कर। कैसे हैं पंच परमेष्ठी? कि णमो अरहंताणं कहने पर निरवशेषरूप-से स्वरूपमें एकाग्र होकर डूबे हुए हैं, ऐसे अरिहंत हैं। तो स्वयंको स्वरूपमें लीन होना है न? तो यहाँ विकल्प लिया, जो स्वरूपमें लीन हुए हैं उसका लिया।

उससे आगे चलकर ऐसा कहते हैं कि तेरा जो स्वरूप है, वह निर्विकल्प स्वरूप है। तो मैं निर्विकल्प स्वरूप हूँ, ऐसा लक्ष्यमें-ज्ञानमें उपयोगमें ले। उपयोगमें उसका लक्ष्य कर। लेकिन वहाँ अभी विकल्प रहता है। तो उदयके विकल्पको तोड़नेको उसका ध्यान सीधा नहीं जमता है और उदयके विकल्पोंमें परिणाम चले जाते हैं, उसे विकल्पके सामने विकल्प उत्पन्न हो तो उसका वह विकल्प अटके। सीधा आ नहीं सकता। अशुभमें-से सीधा नहीं आ सकता। एकाग्र होनेको बैठा और दुकानकी याद आयी, परिवारका विकल्प आया। अशुभ है, अशुभ ध्यान है। सीधा नहीं आ सकेगा। सम्यग्दृष्टिको विकल्प आता है। विकल्पके सामने विकल्प आता है।

वैसे यहाँ अव्रतादिका विकल्प है, व्रतादि

अंगीकार करने-से पहले अव्रतादिकी स्थिति परिणामकी है, उसके सामने व्रतादिकी जो प्रतिज्ञा है, उसका विकल्प उत्पन्न होता है। चाहे सो हो। जैसे कोई मुनिदीक्षा अंगीकार करता है तो वह पहले प्रतिज्ञा लेता है। कोई सीधा कपड़े ऊतारकर जंगलमें चला जाता है, ऐसा नहीं होता। उसकी दीक्षा होती है। चलिये, आज-से साधु बन गये, हमें विधिकी माथापच्चीमें नहीं पड़ना है। मुझे तो अब साधु बन जाना है और आत्म साधना करनी है। इसलिये सब त्याग कर दिया और सबसे दूर चले गये। जिसके साथ सम्बन्ध है उसके साथ नहीं रहना है। ऐसा नहीं होता। उसकी बाकायदा विधिपूर्वक प्रतिज्ञा ली जाती है। उसके पीछे हेतु है कि आसक्तिको तोड़नेमें प्रतिज्ञा है वह सविकल्प दशामें एक ऐसा बल है कि जो अव्रतादि परिणामको उत्पन्न होने नहीं देता।

नहीं तो बहुत लोग ऐसा करते हैं कि अपने प्रतिज्ञा नहीं लेनी है। योग्य प्रकार-से सब व्यवहार करना, लेकिन प्रतिज्ञा नहीं लेनी है। उसे गहराईमें अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है। कभी-भी अपनेको दूसरे परिणाम हो जाय तो कोई दिक्कत नहीं अथवा हो जायेंगे तो? ऐसी उसे देहशत है। जिसके परिणाममें अभी विकल्पात्मक स्थितिमें उतना बल नहीं है कि किसी भी क्रीमत पर आजीवन पर्यंत, मरण पर्यंत मैं अब उस परिणामका सेवन नहीं करूँगा, करूँगा नहीं, ऐसा ज़ोर अभी विकल्पमें भी न आये, निर्णयमें भी न आये, उसे आसक्ति टूटनेका आगे जाकर कोई प्रसंग नहीं है। उसे अन्दर आसक्ति रह गयी है। भले वह व्रतादिरूप प्रवर्तता हो तो भी, त्याग-दशामें प्रवर्तता हो तो भी वह आसक्तिका कषाय दबा हुआ है, रूँधा हुआ है। वह वापस ऊछलकर बाहर आये बिना नहीं रहेगा।

इसलिये 'प्रतिज्ञा-लिए बिना आसक्तिका नाश नहीं होता।' यह बात समझमें होनी चाहिये और यथास्थानमें यथार्थ प्रकार-से प्रतिज्ञाका विकल्प मोक्षमार्गी जीवको आये बिना नहीं रहता। ऐसी समझ

होनी चाहिये। ऐसे ही, शुभ भाव है, ऐसा समझकर ऊड़ानेकी बात करे तो ऐसा भी नहीं चलता। जिस स्थानमें जो योग्य है उसकी उस स्थानमें-से उत्थापना करे तो वह बात मार्गके अनुकूल नहीं है।

‘प्रथम तो स्वभावका भान होना चाहिये।’ सर्व प्रथम, पहलेमें पहले कुछ करने योग्य है तो वह श्रुतज्ञानके अवलम्बन-से ज्ञानस्वभावी आत्माका निश्चय करके, उसका भान करना, अनुभव करना। वह सबसे पहले करने जैसा है।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- वह बात तो आ गयी कि उसके साथ-साथ जो करता है उसे उतना ख्याल हो कि अभी ये सच्चा व्रत-पचखाण नहीं है। तो उसे दिक्कत नहीं है। जो स्वभाव स्थिरतापूर्वक प्रतिज्ञा ली और स्वभाव-स्थिरताके सद्भावमें जो व्रतादिका व्यवहार उत्पन्न हुआ, वह व्रत सच्चा है। परन्तु स्वभावको जाने बिना, स्वभावके भान बिना व्रतादि लिये तो वह व्रतादि जूठे हैं। जूठे गहने पहननेका एकान्तिक निषेध नहीं है। परन्तु जूठेको सच्चा मानकर पहननेका तो बराबर निषेध है। ऐसा है। जहाँ लूट होती हो, वहाँ छोटे गहने पहने, उसमें क्या है? फिर कोई उसे लूट ले तो कितना दुःख होगा? थोड़ा भी नहीं होता? पाँच-पच्चीस रूपयेका चला गया उतना भी नहीं होता? जाने दो, ले जाने दो उसे। खोटेकी कीमत नहीं है। इसलिये वह खोटेमें फँसेगा नहीं। जो खोटेको खोटा नहीं जानता, वह खोटेको सच्चा जानकर फँस जाते हैं। ऐसी तकलीफ नहीं होती। व्रतादि करना ही नहीं, हमें आत्मज्ञान नहीं हुआ है, आत्माका भान नहीं हुआ है, इसलिये हमें पापकी प्रवृत्ति करनी। ऐसा हो सकता है? ये बात किसीके गले ऊतरे नहीं ऐसी है। स्थूल बुद्धिमें भी गलेके नीचे ऊतरे

ऐसी नहीं है। तू कर, लेकिन उसे खोटा जानकर कर। फिर दिक्कत नहीं है।

मात्र शुभ भाव है। उतना अशुभ न हो इसलिये उतने अशुभ-से बचनेको शुभमें रहनेमें कोई दिक्कत नहीं है। सहज-सहज होता है, उसमें भी आर्तध्यान नहीं होता। उसमें आर्तध्यान होता हो तो नहीं करना। उपवास करे, सहज होता हो तो ठीक है। सहज होता हो तो उसकी प्रवृत्तिमें-से छूटकर तत्त्वज्ञान विषयक प्रवृत्तिमें अपना समय व्यतीत कर सके, उतनी भी प्रवृत्ति छोड़कर। क्योंकि आहार छोड़े तो दुकानकी, व्यापारकी प्रवृत्ति भी छोड़े। स्त्री हो तो रसोईकी प्रवृत्ति भी छोड़े। दूसरे अनेक प्रकारकी अशुभ प्रवृत्ति छूटती है, तो वहाँ उसे तत्त्वज्ञानके विषयमें आगे बढ़नेका समय एवं अवकाश बढ़ता है। इस तरह उसे आत्मार्थके आशय-से, और उसका खास कोई विशेष उससे अतिरिक्त मूल्य नहीं है, वह कोई सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है, वह कोई सच्चा साधन नहीं है, ऐसे उसके रागको तीव्र करनेके बजाय वह प्रकार सहज ही उत्पन्न होता हो तो उसका सच्चा लाभ ले तो उसमें कोई दिक्कत नहीं है।

उसे ऐसा नहीं कहते हैं कि, नहीं, तुझे तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है और आत्मज्ञान नहीं हुआ है, इसलिये तू बाकी सबकुछ चालू रख और व्रत मत लेना। ऐसा नहीं कहते हैं। लेकिन तेरी उस विषय सम्बन्धित समझ बराबर होनी चाहिये। व्यवहार समझ है, सामान्य समझका यह विषय है कि सच्चेको सच्चा जानना और खोटेको खोटा जानना। तो तुझे फँसनेकी तकलीफ नहीं होगी। अन्यथा फँस जायगा। और तत्त्वज्ञानकी समझ बिनाके संप्रदायमें रहे जीव क्रियाकाण्डमें कैसे फँसे हैं, उसे अब खोजने जाना पड़े ऐसा नहीं है। १४९ पूरा हुआ।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (मार्च-२०१८) का शुल्क श्रीमति मीताबेन शैलेशभाई देसाई, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

अनुभव संजीवनी

(पूज्य भाईश्री के आगाध मन्थनमें से प्रवाहित यथार्थता सम्बन्धित चिंतन कणिकाएं)

प्रत्येक कार्य यथार्थ होवे, ऐसा अभिप्राय होना चाहिए। इसके लिए यथार्थ समय पर यथार्थरूपसे और अचूकतासे कार्य हो, ऐसा सीखना चाहिए, जो कि सफलताका वैज्ञानिक क्रम है। कार्यकी यथार्थता वह कार्यकी सुंदरता है और इससे निपुणता व क्षमता प्राप्त होती है, शक्तिका अपव्यय नहीं होता है - अथवा समय व शक्तिका पूरा फायदा मिलता है। शक्तिके विकासका आधार भी यथार्थता पर है, जैसे कि यथार्थ सुविचारणासे आत्मज्ञान प्रगट होता है। (६८७)



मुमुक्षुजीव देव, गुरु, शास्त्र व सत्पुरुषके प्रति बहुमान, भक्ति, विनयादि करता है फिर भी उसमें दो प्रकार पड़ते हैं, यथार्थ और अयथार्थ।

उपरोक्त परिणाम यदि यथार्थ प्रकारसे होते हैं तो सर्वत्र ऐसे परिणाम सहज रहते हैं अर्थात् देव, गुरु, शास्त्र और कोई भी प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध सत्पुरुष विषयक प्रभावनाका प्रसंग उदयमान होवे तब भक्ति, विनयादिमें फर्क नहीं पड़ता, जब कि अयथार्थतामें जीव कोई भी अवांतर (अन्य) हेतुसे अथवा विपरीत अभिनिवेशके कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके किसी न किसी बहाने निषेध करता है, और वैसे परिणामोंको विवेक समझकर उसका सेवन करता है, अथवा विपर्यासको दृढ़ करता है। किसी एक प्रसंगमें विरुद्धता होनेका कारण यह है कि जीव यथार्थतामें नहीं आया है; परन्तु अन्यत्र खुदके परिणाम भक्ति-विनयके होनेसे खुद भूलमें नहीं है, ऐसे भ्रममें रह जाता है - इस प्रकार गंभीर भूल हो जाती है। जो समय व्यतीत होने पर स्थूल गृहीत मिथ्यात्व उत्पन्न करा देनेके बीजभूत है। (७०६)



जिज्ञासु जीवको पात्रता / यथार्थ मुमुक्षुकी भूमिकाके बारेमें विचार करते वक्त, मुख्य बाबत ऐसा जो मार्गानुसारीपना - उसका विचार करने योग्य है। श्री जिनने उसे संक्षेपमें कहा है, कि जो जीवको सत्पुरुषकी भक्ति प्राप्त होनेमें कोई बाधकभाव नहीं आता हो अर्थात् सत्पुरुषकी भक्ति प्राप्त होनेके लिए अच्छी सी योग्यता प्रगट हो, वैसे गुणवानको 'मार्गानुसारी' गिनना चाहिये।

'बीज रुचि सम्यक्त्व' अर्थात् सत्पुरुषकी (पहचानपूर्वक) स्वच्छंद निरोधपने, आज्ञारुचिरूप निष्काम भक्तिका कारण उक्त मार्गानुसारीपना होता है। 'बीजरुचि - सम्यक्त्व'- स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीतिका - उस रूप सम्यक्त्व सन्मुखका कारण होता है, जो कि निर्विकल्प परमार्थ सम्यक्त्वका अनन्य और निश्चय कारण है। इस प्रकार जिनवचनमें अनन्त भव छेदक कल्याणमूर्ति सम्यक्दर्शनका मूल नजरमें आता है, इस हेतुसे इस वचनको नमस्कार हो ! (७३०)



परमार्थका कथन आत्मभावके तथारूप आविर्भावपूर्वक होना चाहिए। अथवा आत्मभावका आविर्भाव होनेके हेतुसे, परमार्थ विषयक वचन-व्यवहारमें प्रवर्तनका उद्देश्य हो, तो वह यथार्थ है।

यदि उस प्रकारसे वचन-प्रयोग नहीं होता, तो उसमें कृत्रिमता होती है, अथवा उद्देश्य अन्यथा होनेके

कारण, प्रायः कल्पना होती है। अतः विचारवान् मुमुक्षुजीव और ज्ञानी वैसी प्रवृत्ति नहीं करते। (८८३)



शास्त्रके शब्दका अर्थ करनेमें सिर्फ क्षयोपशमकी आवश्यकता है, जो कि लौकिक जनमें भी होता है। परन्तु उसका भाव समझकर उसकी खतौनी करना वह अलग विषय है, जो पात्रता आधारित है।

शास्त्र, अनुभवी-स्वरूपदृष्टिवान महत् पुरुषों द्वारा रचित हैं। अतः उसके अर्थकी यथार्थ खतौनी, स्वरूपदृष्टि प्राप्त धर्मात्मा ही कर सकते हैं, अन्य नहीं। शब्दार्थका महत्त्व नहीं है, खतौनीका महत्त्व है।

सर्वस्वरूपसे उपादेय शुद्धात्माकी दृष्टिपूर्वक प्रवर्तता ज्ञान, यथार्थरूपसे खतौनी करता है, कर सकता है। रागकी उपादेयतावाला जीव खतौनीमें भूल करता है। (८९३)



देहकी पीड़ा आदिका दुःख वेदन - अनुभवका विषय है, सिर्फ विचारका विषय नहीं, तो फिर उसके निवारणके लिए, सुख या आत्माका विचार करने मात्रसे वह दुःख मिट जाये ऐसा कैसे बने? उसके लिए तो सुख स्वभावका परिणमन होना चाहिए। किसी एक विचारको विरुद्ध विचारसे बंद किया जा सकता है, परन्तु वेदनकी बलवत्तरता होनेसे, उसे सिर्फ विचारसे रोक सके या बंद कर सके, ऐसा नहीं हो सकता। दुःखका वेदन सुखके वेदनसे ही मिटाया जा सकता है, सुख स्वभावका ग्रहण होनेसे, कल्पना मात्रसे उत्पन्न हुआ दुःख, कल्पना छूट जानेसे मिट जाता है। अतः ज्ञायकका विकल्प या चिंतन दुःखका नाश करनेके लिए असमर्थ है। सुखका वेदन ही दुःखका उपाय है। (९०५)



कृत्रिम पुरुषार्थ / प्रयासका अभिप्राय छोड़ने जैसा है। वैसे अभिप्रायमें विधिकी भूल है। यथार्थ ज्ञान द्वारा सहज पुरुषार्थका उत्थान होता है। अथवा ध्येयके प्रति यथायोग्य प्रकारके परिणाम सहज होने लगे (लगन, जागृति, दर्शनपरिषह इत्यादि), वह यथार्थताका लक्षण है। कृत्रिमताका अभिप्राय अयथार्थताका लक्षण है। इसलिए कृत्रिमता कर्तव्य नहीं है, तथा अनुमोदन करने योग्य भी नहीं है। (९२६)



अनादिसे जीवका (भावमें) रागके प्रति झुकाव है। उसे पलटकर वीतरागताकी उपलब्धि होवे इसके लिए अंतर्मुख होना - रहना वही उपाय है, परन्तु मुमुक्षुता और नीचेके गुणस्थानमें (मुनिदशा आनेके पहले) परिणमनका बहुभाग बहिर्मुख (अनिवार्यरूपसे) वर्तता है, ऐसेमें वीतरागी महात्माओं एवं वीतरागी देवोंके वीतरागभाव स्वरूपको स्मरणमें - ज्ञानमें लेकर नमस्कार - बहुमानके भाव होना सहज हैं। यद्यपि परद्रव्य प्रतिके परिणाम बहिर्मुखताके कारण उपादेय नहीं है। परन्तु 'लक्ष्य'में वीतरागता होनेसे, रागका और बहिर्मुखताका निषेध वर्तता है, परन्तु शुष्कता नहीं होती। प्रकारांतरसे शुष्कताकी संभावना रहती है। यथार्थतामें उक्त भक्ति सहज होती है। (९६८)



बुद्धिकी विशालता और उदारता सत्यका स्वीकार करती है। यह स्वीकार होनेमें मध्यस्थता होना अति आवश्यक है। जो जीव मध्यस्थ होता है, वह खुदके निर्णयसे विरुद्ध बातका विचार कर सकता है। स्थिर चित्तसे विचार करके योग्य-अयोग्यको समझ सकता है। यथार्थताकी प्राप्तिमें मध्यस्थताका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसलिए मुमुक्षुको अभिप्रायपूर्वक मध्यस्थताका अवधारण करना चाहिए। मध्यस्थताके अभावमें अपने अभिप्राय

विरुद्ध हकीकत-सत्य होने पर भी उसका निषेध आता है। और इसके कारण सहज असरलता हो जाती है और निष्पक्षरूपसे विचार करनेकी योग्यताकी हानि होनेसे अयथार्थ निर्णय लेनेमें आ जाता है। (१९२)



सत्श्रुत प्राप्त होने पर भी जीवको निज स्वरूपका यथार्थ निश्चय होनेमें, यानी कि स्वरूपकी पहचान होनेमें अंतरायरूप जीवका मति विपर्यास है। ये मति विपर्यास, परमें सुखबुद्धिके कारण उत्पन्न हुए इसके कारण है। अंतरसे आत्मकल्याणकी भावनापूर्वक, इस विभावरसको ज़हर जानकर, कमज़ोर (फीका) किया जाय तब वैराग्य और उपशम प्रगट होते हैं। इस प्रकार यथार्थरूपसे विभाव भावोंमें नीरसता होनेके पहले, स्वरूपको समझने जानेमें, जाने-अनजानेमें स्वरूपका अन्यथा - कल्पित निर्धार हो जाता है, क्योंकि मिथ्यात्व पतला नहीं पड़ा। अतः परमें सुखबुद्धि वही आरंभ - परिग्रह है, कि जो यथार्थ वैराग्य-उपशमरूप आत्मार्थीकी यथार्थ भूमिकाके वैरी हैं, विरोधी और घातक हैं। आत्मार्थी जीवको सर्व उपदेश व सिद्धांतका उपशम हेतु (विभावरस तोड़नेके लिए) ग्रहण करने योग्य है और इसीमें यथार्थता है। (१०३९)



अध्यात्मका आशय बुद्धिगम्य होनेसे, त्रिकाली परमपारिणामिक ज्ञायक स्वभावका, आश्रय-अवलंबन - लक्ष्य - अंतर्मुखता-इत्यादि होनेमें इसके हेतु, न्याय, युक्तियाँ, आगम-आधार इत्यादि - समझना और समझानेका बन सकता है। परलक्षी ज्ञानमें इतनी मर्यादा तक परमार्थका विषय संभवित है। परन्तु यथार्थता तो स्वलक्ष होने पर ही आती है, तब तक उक्त विषयका भाव भासित नहीं होता। ऐसी स्थितिमें प्रायः यथार्थता मान लेनेका बन जाता है, जो यथार्थताको प्रतिबंधक है। यथार्थता सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका अंग है, यानी कि पूर्वभूमिका है - यह विषय सूक्ष्म है, क्योंकि यथार्थता आये बिना इस समझमें कल्पना होकर, कल्पित भावमें संतोष - मिथ्या संतोष / समता आती है। परन्तु स्वभावकी अपूर्व रुचि और विभावकी अरुचि प्रगट नहीं होती। फलतः योग्यता रुक जाती है। (१०४१)



लोकसंज्ञाका श्रद्धाके साथ सम्बन्ध है। जो लोगोंके अभिप्राय अनुसार जीता है, उसे खुदके ऊपर श्रद्धा नहीं है। जिसे खुदमें श्रद्धा है, उसे लोगोंकी दरकार नहीं होती। खुदकी निर्दोषता ही निःशंकाका आधार होनी चाहिए। सत्यको यदि दूसरेके सर्टिफिकेटकी ज़रूरत पड़े, तो वह पंगु / अपंग हो जाये। लोगोंके अभिप्रायको खरीदनेवाले सत्यको बेचकर, आत्मघात करते हैं। ऐसे जीवनमें शांति नहीं होती। सम्यक्मार्ग पर चलनेवाला स्वतंत्र विचारक, किसीकी भी परवाह किये बिना, मस्तीमें जीता है। उसे कोई भी घटना या दुर्घटना चलित नहीं कर सकती, बल्कि सर्व प्रसंग मार्गकी दृढ़ता होनेमें ही उसे, उपकारी होते हैं। सच्ची समझका ऐसा स्वभाव है। (१०६७)



जीव भावभासनके लिए प्रयोगाभ्यास न करे और शास्त्राभ्यास बढ़ा देवे, तो प्रायः अनेक जगह कल्पना करता है। अतः मार्गप्राप्तिकी दिशामें जरा भी विकास नहीं हो पाता है, परन्तु ज्ञान-वृद्धि होनेका संतोष होता है, और ओघसंज्ञा जनित विपर्यास होता है - उस प्रकारसे श्रद्धा और ज्ञान - दोनोंका दोष होता है। कृपालुदेवने यथार्थ ही कहा है कि, “निज कल्पनाथी कोटी शास्त्रों मात्र मननो आमळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने सर्व भव्यो सांभळो।”

इसलिए थोड़ा लेकिन यथार्थ ज्ञान होना चाहिए।

(११४६)



‘यथार्थ लक्ष्य’ होने पर जीवके परिणाम सहज क्रमसर होने लगते हैं। प्रारम्भसे लेकर वर्तमान परिणाम, सिर्फ जाननेका विषय बन जाता है, जोर इसे ‘करने’ पर नहीं रहता। (जहाँ) लक्ष होता है वहाँ जोर जाता (है) - यह परिणामका नियम है। अतः परिणामोंका मूल्य लक्ष्य आधारित होना चाहिए, सिर्फ परिणाम आधारित नहीं। वर्तमान परिणाम कर्तृत्व भावसे किये जाते हों वहाँ तक ‘यथार्थ लक्ष्य’ नहीं हुआ है और कर्तृत्वके कारण दर्शनमोह वृद्धिगत होता है। आत्मार्थी जीवको प्रगति होनेके लिए, इसका खास विचार करने योग्य है।

(११८६)



परिणाममें विकल्पको मत देखो, परन्तु अनुभवको देखो। मुख्यता किसकी हो रही है? वह देखो। शुभाशुभकी रुचि कितनी है? उसकी जाँच करो। विकल्पमें आकुलता है, पर तरफके इकावमें आकुलता है, उसकी अरुचि क्यों नहीं हो रही है? उसे खोजो ! सत्पुरुषके वचनमें भी सिर्फ न्यायका ही विचार मत करो, परन्तु उनके अनुभवको और अनुभवकी गहराईको देखनेका प्रयास करो। मार्ग अनुभवप्रधान होनेसे, सर्वत्र अनुभवकी प्रधानता होनी चाहिए, कि जिससे कहीं भी अयथार्थता न हो।

(११९२)



जिस जीवकी विचारशैली आदर्श-प्रधानता युक्त होती है, उसका अंतःकरण निर्मल होता है, अतः वैसे निर्मल अंतःकरणवाला जीव सुगमतासे ‘पूर्णताका लक्ष्य’ बाँध सकता है। उसका तो प्रथमसे ही उच्च कोटिका जीवन घड़नेका अभिप्राय होता है। इसलिए तथारूप अवकाश मिलते ही वह जीवन बदलनेके लिए सहज तैयार हो जाता है। ऐसा जीव प्रायः वीर्यवान एवं समर्पणबुद्धि युक्त होता है। जो कि ‘लक्ष्य’ बँधनेके लिए सुसंगत है, सुयोग्य है।

(१२४०)



जब आत्मार्थी जीव अपक्षपातरूपसे और सरलतासे अपने दोषोंका अवलोकन करता है तब उसे खेद अवश्य होता है, परन्तु उसे हतोत्साही नहीं होना चाहिए। यथार्थता उसमें है। जिससे स्वकार्यका उत्साह वर्धमान होता है। जैसे अन्यके गुणको देखकर होता है वैसे।

(१२४८)



वस्तु, स्वरूपसे अनेक अपेक्षित और निरपेक्ष धर्म संपन्न है। जिनागम द्वारा उसे जान सकते हैं। तथापि उसको जाननेके कालमें आत्महितका दृष्टिकोण - मुख्यता - रहे तो ही ये स्वरूप-ज्ञान सार्थक - उपकारी है। अन्यदृष्टिसे जाननेसे अनर्थ होता है - हो जाता है।

(१२५४)



इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान बहिर्मुख होनेसे आकुलता उत्पन्न करता है, इसलिए उससे आत्मलाभ नहीं होता। परन्तु शास्त्रज्ञानमें बुद्धिपूर्वक विपर्यास नहीं हो तो उस ज्ञानमें यथार्थता होनेका संभव है। और इस यथार्थतापूर्वक वह ज्ञान विकसित होकर - आगे जाकर सम्यक्ताको प्राप्त होता है। अतः आत्मोन्नतिके क्रममें उस यथार्थताका स्वीकार होना चाहिए। व्यवहारके स्थानमें व्यवहार सम्मत होना जरूरी है।

(१२८१)



पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी के १०७ वें जन्मजयंति महोत्सव प्रसंग पर सुवर्णपुरी सोनगढ़ में धार्मिक कार्यक्रम

पूज्य गुरुदेवश्री के महापुराण के पात्र ऐसे पूज्य निहालचंद्रजी सोगानीजी की १०७ वीं जन्मजयंति उनकी साधनाभूमि सुवर्णपुरी में दि.२४-४-२०१८ से दि.२६-४-२०१८ त्रिदिवसीय धार्मिक कार्यक्रम सहित अत्यंत आनंद उल्लासपूर्वक मनाने का निश्चित किया गया है। यह धार्मिक कार्यक्रम सोनगढ़ स्थित गुरुगौरव होल में मनाया जायेगा।

इस प्रसंग पर प्रातः पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा (आश्रम में), जिनदर्शन तथा पूजन जिनमंदिर में, पूज्य गुरुदेवश्री का सीडी प्रवचन स्वाध्याय मंदिर में, तत्पश्चात् पूज्य भाईश्री शशीभाई के द्रव्य दृष्टि प्रकाश ग्रंथ पर गुरुगौरव होल में प्रवचन, दोपहर में पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन, बादमें पूज्य सोगानीजी का गुणानुवाद गुरुगौरव होल में, रात्रि में पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन और गुरुगौरव होल में भक्ति एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम सहित मनाया जायेगा। दि.२६-४-२०१८ पूज्य सोगानीजी के जन्मजयंती दिन पर पूज्य भाईश्री के प्रवचन के बाद जन्मवधामणा तथा भक्ति की जायेगी। इस प्रसंग में भारतवर्षीय सभी मुमुक्षु भाई-बहनों को पधारने का हार्दिक निमंत्रण है। आनेवाले मुमुक्षुओं को संख्या सहित अपने आने की जानकारी संस्था के कार्यालय में देने की विनंती।

संपर्क : श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१

आयोजक : श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट, भावनगर

‘स्वानुभूतिप्रकाश’ (हिन्दी) का स्वामित्वका विवरण फॉर्म नं.४, नियम नं. ८

पत्रका नाम : ‘स्वानुभूतिप्रकाश’ (हिन्दी)

प्रकाशन स्थल : श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१

प्रकाशन अवधि : मासिक

मुद्रक : भगवती ऑफसेट, १५/सी बंसीधर मिल कम्पाउन्ड, बारडोलपुरा, अहमदाबाद-३८०००४

प्रकाशकका नाम : श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१

संपादकका नाम : हीरालाल जैन, (भारतीय), ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१

स्वामित्व : श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१

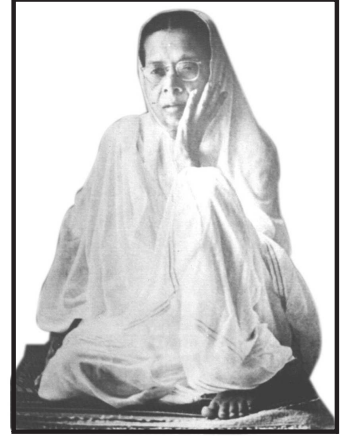
मैं, हीरालाल जैन, एतद द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकृत जानकारी और विश्वास अनुसार उपरोक्त विवरण सत्य है।

ता. ३१ मार्च, २०१८

हीरालाल जैन

मेनेजिंग ट्रस्टी, श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट

पूज्य बहिनश्री की तत्वचर्चा



प्रश्न :- यह सब मात्र विकल्पमें सम्मत हो तो चलेगा न?

समाधान :- पहले विकल्प होता है; निर्विकल्प तो बाद में होता है। पहले तो अभ्यास ही होता है और वह अभ्यास गहराईसे हो तो भी उसका निर्णय ऐसा होना चाहिये कि यह अभ्यास तो विकल्प में है, अंतरकी गहराईमें अभी उतरना बाकी है-ऐसा ध्येय रखे तो गहरे तक जानेका प्रयत्न हो। परंतु विकल्पमात्र में अटक जाय कि मैंने बहुत कर लिया, तो आगे नहीं बढ़ सकता। यह विकल्पमात्र अभ्यास है, अभी इससे और आगे जाना है-ऐसा ध्येय होना चाहिये। यदि ऐसा ध्येय रखे तो आगे बढ़ सके।

मुमुक्षु :- क्या ध्रुवका ध्येय रखकर अभ्यास करना चाहिये?

बहिनश्री :- हाँ; ध्रुवका ध्येय रखना चाहिये, तो आगे बढ़ा जा सकता है।

मुमुक्षु :- ध्रुवका लक्ष्य रखकर बात सुनना वह क्या विकल्पात्मक भूमिका है?

बहिनश्री :- वह विकल्पात्मक भूमिका है। ध्रुवका ध्येय होना चाहिये कि-मुझे आगे बढ़ना है, निर्विकल्प होना है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६१२)



प्रश्न :- कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि-गुरुदेव मिले, और यह बातें रुचती भी है तो भी आगे क्यों नहीं बढ़ा जाता?

समाधान :- भावना तो, ऐसे रहे कि इतना सब मिलने पर भी क्यों आगेका कार्य क्यों नहीं होता? गुरु मिले, अंतरंग रुचि हो, (मार्ग) सच्चा लगे, परंतु स्वयं परिणतिको नहीं पलटता, वह करना बाकी है। अंतरमें भेदज्ञानकी परिणति प्रगट करके पलटा खाये और स्वानुभूति प्रगट कर ले, फिर तो उसे चारित्र बाकी रहता है। प्रथम सीढ़ी (उन्नति-क्रममें) सम्यग्दर्शन प्रधान है। और वह पलटा खानेसे होता है। यदि पलटा खा गया तो सच्चे मार्ग पर चढ़ गया।

(स्वानुभूतिदर्शन-६१३)



प्रश्न :- ज्ञानीके बिना ज्ञान गम्य नहीं है; परंतु ज्ञानीजनोंका साक्षात्कार होनेपर भी हमारी ऐसी परिस्थिति क्यों हो रही है?

समाधान :- क्योंकि स्वयंने गुरुको तथा भगवानको नहीं पहिचाना। उन्हें बाहरसे पहिचाना किंतु अंतरसे नहीं। अंतरसे अपूर्व रीतिसे नहीं पहिचाना कि-यह सबसे निराले हैं! और अनूठी ही बात कह रहे हैं! गुरुदेव पंचमकालमें पधारे और अनोखे ढंगसे बात बतलायी, जिससे सबको इतना तो खयाल आया कि वे और ही कुछ कह रहे हैं! जीवने स्थूलदृष्टिसे-बाह्यदृष्टिसे भगवानको तथा गुरुको पहिचाना; परंतु वे जो कह गये उसे ग्रहण नहीं किया।

(स्वानुभूतिदर्शन-६१४)



प्रश्न :- “मैं भिन्न हूँ... भिन्न हूँ” ऐसा लगा करता है तो वह क्या ठीक है?

समाधान :- ज्ञानीको जागते-सोते, चलते-फिरते, स्वप्नमें निरंतर भिन्न लगे सो ठीक है; परंतु उससे पूर्व ‘मैं भिन्न हूँ... भिन्न हूँ’ ऐसा बोलने लगे वह बराबर नहीं है। तथा ‘मैं भिन्न हूँ’, ऐसा (शास्त्रसे) जान लेने के पश्चात् ‘मैं भिन्न हूँ’-ऐसा विचार होता रहे वह भी बराबर नहीं है। परंतु साक्षात् ज्ञायक उसे हस्तामलकवत् दिख रहा-(अनुभवता) हो कि ‘मैं यह रहा ज्ञायक, यह रहा मैं ज्ञायक’ अर्थात् मैं ज्ञायक यह (विद्यमान) हूँ-ऐसा ही वेदन बना रहे, सो बराबर है। अपने ज्ञानमें ज्ञायक न्यारा ही लगा करे वह (ज्ञायक) प्रगटरूपसे अलग लगे सो यथार्थ है। ‘मैं ज्ञायक हूँ’ ऐसा मात्र विकल्प नहीं परंतु आत्मजागृति होनी चाहिये और वह दुनियासे जुदी ही होती है। जगतसे पृथक् हो जाय उसे फिर उलझन नहीं रहती। यह ज्ञायककी धारा मेरे हाथमें है, पुरुषार्थकी सहजधारा अमुक प्रकारसे तो ज्ञानीके चलती ही रहती है, विशेष उग्रता पीछे होती है। उस धारामें निचली दशा हो तब अमुक समय मंदता होती है और अमुक समय तीव्रता होती है।

मुमुक्षु :- अंतरसे खयाल आता है, परंतु उग्रता कैसे लाना?

बहिनश्री :- श्रद्धाका बल बढ़े तो उग्रता हो। अंतरत्त्वकी शक्ति बढ़े, अंतरमें विरक्ति बढ़े, चैतन्यकी-अपनी महिमामें वृद्धि हो और बाहरकी महिमा छूटे, बाह्यमें आकुलता लगे और ज्ञायककी महिमा बढ़ जाय तो उग्रता बढ़ती है। अभी (स्वयंको) श्रद्धाके बलमें मंदता लगती है तो स्वयं विचारना चाहिये कि वैसा क्यों है?

(स्वानुभूतिदर्शन-६१५)



प्रश्न :- अपने उदयके कारण (अपने) बालकको कठिनाई होती है न?

समाधान :- तुम्हारे उदयसे बालकको तकलीफ नहीं होती। उसे उसके अपने उदयसे तकलीफ होती है। उसका उदय स्वतंत्र है और तुम्हारा उदय भी स्वतंत्र है। उस बालकने ऐसे परिणाम किये होते हैं इसलिये उसे तकलीफ पड़ती है-उस प्रकारके संयोग मिलते हैं।

किसीका जन्म राजाके घरमें होता है, किसीका रंकके घरमें; और कोई कहीं जन्म लेता है।-इसप्रकार सर्व जीव अपना-अपना उदय साथ लेकर आते हैं। इसलिये तो शास्त्रोंमें आता है और गुरुदेव भी कहते हैं कि : आत्माका (हित) कर ले! जन्म-मरण करते-करते अनंत भव बीत गये। उनमें अपने परिणामके अनुसार किसीको मनुष्यभव प्राप्त होता है तो कोई देव, नारकी या तिर्यच होता है। उसमें कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता।

शुभाशुभभावोंका कर्ता तथा उनके फलका भोक्ता स्वयं है। और उनसे पृथक् होकर, ‘मैं आत्मा शाश्वत हूँ, मुझमें आनंद है’ इसप्रकार आत्माको जाननेवाला भी स्वयं ही है। आत्माकी पहिचान करनेवाला मोक्ष प्राप्त करता है। अंतरमें भेदज्ञान करके ऐसा जाने कि-शरीर जुदा और मैं जुदा हूँ; संकल्प-विकल्प होते हैं वह मैं नहीं हूँ; मैं ज्ञाता आत्मा किसीका कुछ कर नहीं सकता;- (ऐसे भेदज्ञानरूप परिणमित हो तो) अंतरमें मोक्षदशा प्रगट होती है। जिनेन्द्र भगवान और गुरु तो उपदेश देते हैं परंतु तदनुसार पुरुषार्थ तो स्वयंको करना रहता है। कोई किसीका कुछ कर नहीं सकता। आत्माकी साधना भी स्वयं करता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६१६)



१६५

बंबई, कार्तिक सुदी ५, सोम, १९४७

परम पूज्य-केवलबीज-सम्पन्न,

सर्वोत्तम उपकारी श्री सौभाग्यभाई, मोरबी

आपके प्रतापसे यहाँ आनन्दवृत्ति है।

प्रभु के प्रतापसे उपाधिजन्य वृत्ति है।

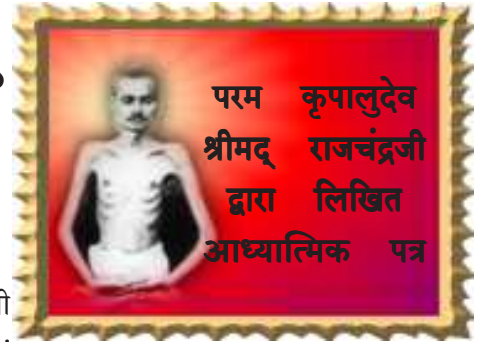
भगवान परिपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न कहलाते हैं। तथापि इनमें भी कुछ कम उपलक्षण नहीं है! विचित्र करना यही है इसकी लीला! तो अधिक क्या कहना!

सर्व समर्थ पुरुष आपको प्राप्त हुए ज्ञानके ही गीत गा गये हैं। इन ज्ञानकी दिन प्रतिदिन इस आत्माको भी विशेषता होती जाती है। मैं मानता हूँ कि केवलज्ञान तकका परिश्रम व्यर्थ तो नहीं जायेगा। हमें मोक्षकी कोई जरूरत नहीं है। निःशंकताकी, निर्भयताकी, निराकुलताकी और निःस्पृहताकी जरूरत थी, वह अधिकांशमें प्राप्त हुई मालूम होती है, और पूर्णांशमें प्राप्त करानेकी गुप्त रहे हुए करुणासागरकी कृपा होगी, ऐसी आशा रहती है। फिर भी इससे भी अधिक अलौकिक दशाकी इच्छा रहती है, तो विशेष क्या कहना?

अनहद ध्वनिमें कमी नहीं है। परन्तु गाड़ी-घोड़ेकी उपाधि श्रवणका सुख थोड़ा देती है। निवृत्तिके सिवाय यहाँ दूसरा सब कुछ है।

जगतको, जगतकी लीलाको बैठे बैठे मुफ्तमें देख रहे हैं।

आपकी कृपा चाहता हूँ।



वि. आज्ञाकारी रायचन्दका प्रणाम।



१६६

बंबई, कार्तिक सुदी ६, मंगल, १९४७

सत्पुरुषके एक-एक वाक्यमें, एक-एक शब्दमें अनंत आगम निहित हैं, यह बात कैसे होगी?

निम्नलिखित वाक्य मैंने असंख्य सत्पुरुषोंकी सम्मतिसे प्रत्येक मुमुक्षुके लिये मंगलरूप माने हैं, मोक्षके सर्वोत्तम कारणरूप माने हैं-

१. मायिक सुखकी सर्व प्रकारकी वांछा चाहे जब भी छोड़े बिना छूटकारा होनेवाला नहीं है, तो जबसे इस वाक्यका श्रवण किया, तभीसे उस क्रमका अभ्यास करना योग्य ही है, ऐसा समझे।

२. किसी भी प्रकारसे सद्गुरुकी शोध करे, शोध करके उसके प्रति तन, मन, वचन और आत्मासे अपर्णबुद्धि करे; उसीकी आज्ञाका सर्वथा निःशंकतासे आराधन करे, और तभी सर्व मायिक वाचनाका अभाव होगा, ऐसा समझें।

३. अनादि कालके परिभ्रमणमें अनंतबार शास्त्रश्रवण अनंतबार विध्याभ्यास, अनंतबार जिनदीक्षा और अनंतबार आचार्यत्व प्राप्त हुआ है। मात्र 'सत्' मिला नहीं, 'सत्' सुना नहीं, और 'सत्'की श्रद्धा की नहीं, और इसके मिलने, सुनने और श्रद्धा करनेपर ही छूटकारेकी गूँज आत्मामें उठेगी।

४. मोक्षका मार्ग बाहर नहीं, परन्तु आत्मामें है। मार्ग को प्राप्त पुरुष मार्गको प्राप्त करायेगा।

५. मार्ग दो अक्षरोंमें निहित है और अनादि कालसे इतना सब करनेपर भी क्यों प्राप्त नहीं हुआ, इसका विचार करें।